Airo International Research Journal

Volume XIV, ISSN: 2320-3714
February, 2018
Impact Factor 0.75 to 3.19

ज्ञान-विज्ञान विमुक्तये
UGC Approval Number 63012

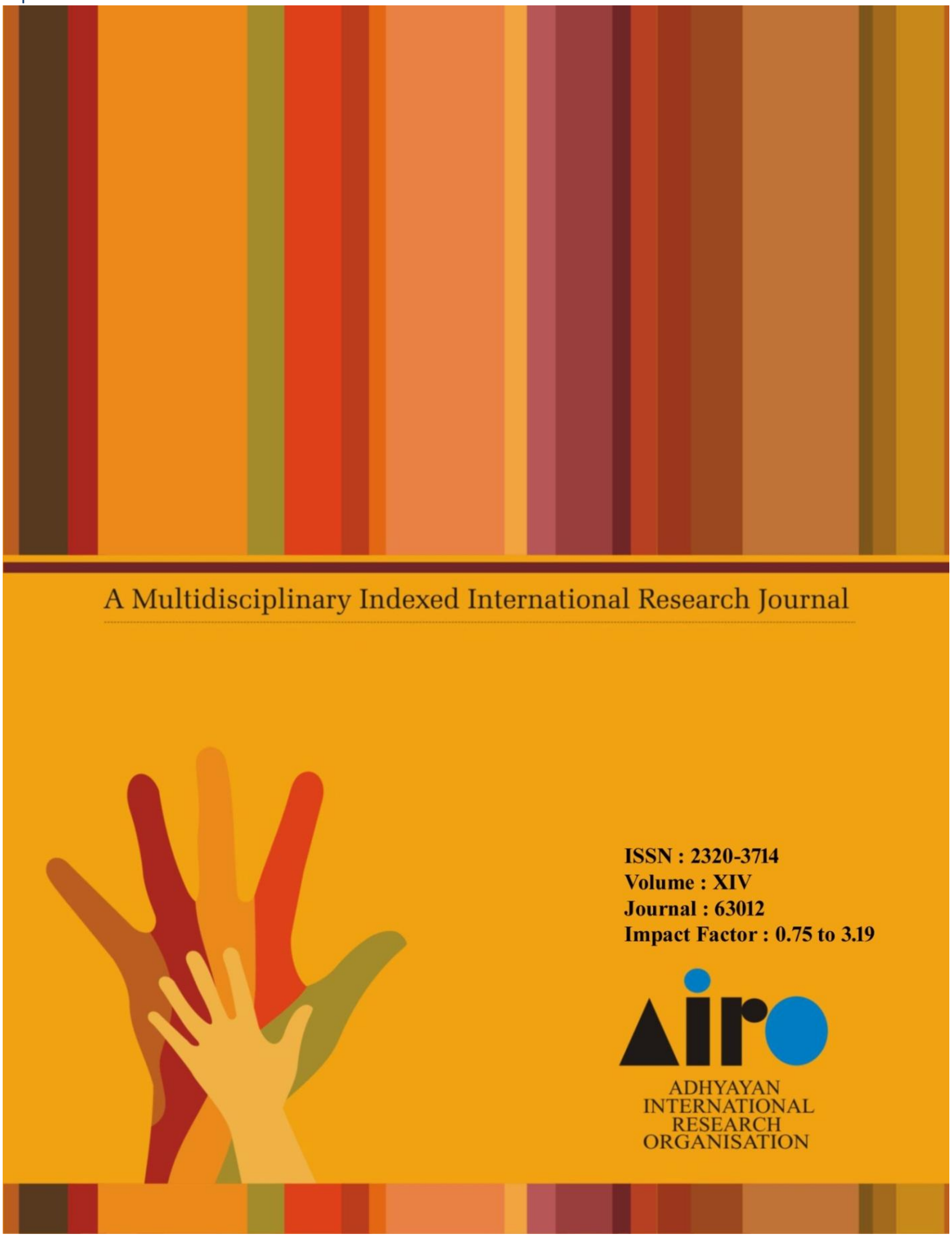

Airo International Research Journal

Volume XIV, ISSN: 2320-3714
February, 2018
Impact Factor 0.75 to 3.19

ज्ञान-विज्ञान विमुक्तये

UGC Approval Number 63012

वैदिक कालीन शिक्षा पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव

मनोज चौधरी

शोधार्थी शिक्षा संकाय, आइसेक्ट विश्वविद्यालय भोपाल (म0प्र0)

डॉ0 किरण मिश्रा

विभागाध्यक्ष शिक्षा संकाय, आइसेक्ट विश्वविद्यालय भोपाल (म0प्र0)

Declaration of Author: I hereby declare that the content of this research paper has been truly made by me including the title of the research paper/research article, and no serial sequence of any sentence has been copied through internet or any other source except references or some unavoidable essential or technical terms. In case of finding any patent or copy right content of any source or other author in my paper/article, I shall always be responsible for further clarification or any legal issues. For sole right content of different author or different source, which was unintentionally or intentionally used in this research paper shall immediately be removed from this journal and I shall be accountable for any further legal issues, and there will be no responsibility of Journal in any matter. If anyone has some issue related to the content of this research paper's copied or plagiarism content he/she may contact on my above mentioned email ID.

प्रस्तावनाः—भारतीय शिक्षा का विकास ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बताया जा सकता है। इतिहास के अनुसार पूरे समय को तीन कालों में बांटा गया है—;

1. प्राचीन काल
2. मध्य काल
3. आधुनिक काल।

प्राचीनकाल का तात्पर्य उस युग से है जब यहाँ सभ्यता अपने आदि रूप में पाई जाती थी। इतिहासकारों ने इसे पूर्व वैदिक काल कहा है जो ई. पू. 3000 वर्ष के लगभग था। इसके पश्चात् वैदिक काल तथा उत्तर वैदिक काल आया। इन्हें केवल वैदिक काल के नाम से पुकारते हैं। इसका आरम्भ ई. पू3000 वर्ष हुआ और यह काल लगभग ई. पू. 1000 वर्ष तक रहा।

वैदिक काल में शिक्षा की पूरी व्यवस्था थी। वैदिक काल में शिक्षा का आधार धर्म रहा। भारतीय संस्कृति एवं जीवन में धर्म प्रमुख अंग थे और शिक्षा लेना—देना मनुष्य का धर्म था और इसकी चरम सीमा मोक्ष या मुक्ति मानी गयी थी। वैदिक काल में शिक्षा वेदों के अध्ययन तक सीमित रही, इसी से तो इस काल का नाम 'वैदिक काल' पड़ गया। वेद विद् धातु से बना शब्द है जिसका अर्थ ज्ञान होता है। वेद पवित्र धार्मिक साहित्य है।

वेद चार हैं–

क. ऋग्वेद **ख.**यजुर्वेद **ग.** सामवेद **घ.** अथर्ववेद।

ऋग्वेद सबसे प्राचीन धर्मग्रन्थ है और अथर्ववेद सबसे बाद में रचा गया।ऋग्वेद में ईश्वर की स्तुति के मंत्र हैं। परन्तु जीवन के अन्य क्षेत्रों से सम्बन्धित मंत्र या ऋचाएँ इसमें पायी जाती है। यजुर्वेद यज्ञ के मंत्रों का संग्रह है जिसका प्रयोग पूजा–पाठ, अनुष्ठान एवं यज्ञ के समय होता है। आज भी इसके मंत्र का प्रयोग पुरोहित लोग करते हैं। सामवेद में यज्ञ के समय गाई जाने वाली ध्वनियों का संग्रह है। इसमें काव्यतत्व है कि इसके मंत्रों को 'अर्चिकाएँ' कहा गया है। यह वेद संगीत का पाठ्य–ग्रन्थ माना जाता है। अथर्ववेद के मंत्रों में चिकित्सा के मंत्र भी हैं, जड़ी–बूटियों का उल्लेख है, ज्योति ज्ञान है, जन्म, विवाह, मृत्यु और संस्कारों के मंत्र हैं, तांत्रिक मंत्र भी हैं। राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक एवं दार्शनिक व्यवस्था से भी सम्बन्धित मंत्र मिलते हैं इस प्रकार वैदिक काल में जीवनज्ञान के द्वारा निर्देशित था। बौद्ध के व्यवहार से जीवन आगे बढ़ता था। जो व्यक्ति वेदों को नहीं समझता था वह मूर्ख शूद्र माना जाता था। वह आदर का पात्र नहीं होता था।

वैदिक शिक्षा का तात्पर्यः भारतीय समाज में प्राचीनकाल से शिक्षा अथवा विद्या का स्वरूप अत्यन्त ज्ञानपरक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था, जिसमें व्यक्ति के लौकिक और परलौकिक जीवन के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के निर्माण तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करने के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता थी। मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक और बौद्ध उत्कर्ष शिक्षा के ही माध्यम से सम्भव माना जाता रहा है। शास्त्र और विवेक से शिक्षा सम्पन्न होती है और शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान का उदय होता है। इसलिए ज्ञानोद्भव का आधार–तत्त्व शास्त्र और विवेक माना गया है।ज्ञान अथवा विद्या से मुक्ति प्राप्त होती है तथा मनुष्य शिल्प में निपुणता प्राप्त करता है। इस तरह ज्ञान के आलोक से मनुष्य का जीवन आलोकित होता है, क्योंकि

किसी भी कार्य को करने वाले दो प्रकार के लोग होते हैं, एक तो वे जो उसको समझ अथवा ज्ञान से करते हैं, दूसरे वे जो बिना समझे अथवा अज्ञान से करते हैं। किन्तु विद्या और अविद्या दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। विद्या और सच्ची लगन के साथ जो व्यक्ति कर्म करता है वही अधिक शक्तिशाली होता है। वस्तुतः ज्ञान अथवा विद्या का कर्म और आचरण परिष्कृत और दिव्य हो जाता है और वह ज्ञान–सम्पन्न होकर देवतुल्य हो जाता है।वैदिक युग में ऐसे ज्ञानी व्यक्ति को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी और जब व्यक्ति विद्या और ज्ञान से सम्पन्न हो जाता था तब वह द्दषि–द्दण से मुक्त हो जाता था। द्दग्वेदकालीन समाज में भी भौतिक की अपेक्षा बौद्ध ज्ञान का महत्त्व था। उस युग में ऊँचे विचार, ज्ञान की महिमा, त्यागमय जीवन, आध्यात्मिक चिन्तन और भौतिक आकर्षण के प्रति मनुष्य के जीवन के मूल्य थे। द्दग्वेद के गायत्री जैसे मंत्र ज्ञान के उच्चतम आधार थे। मंत्रदृष्टा ऋषियों की ऋचाओं में उच्चतम दार्शनिक चिन्तन दिग्दर्शित होता था। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि स्वाध्याय और प्रवचन का अनुगमन करने से व्यक्ति का मन एकाग्र हो जाता है, फलस्वरूप वह स्वतंत्र हो जाता है। इससे उसे नित्य धन की प्राप्ति होती है, सुखद निद्रा आती है। वह अपना चिकित्सक बन जाता है। उसकी इन्द्रियाँ संयमित हो जाती हैं। वह प्रज्ञावान हो जाता है, यशस्वी हो जाता है और संसार के अभ्युदय में लग जाता है। समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को ब्राह्मण ज्ञान के माध्यम से पूर्ण करता है। इस पर समाज उसे आदर प्रदान करता है, दान देता है और उसे सुरक्षा प्रदान करता है। जो लोग अनेक प्रकारकी विद्याओं का अध्ययन करते हैं, वे देवताओं को प्रसन्न करते हैं तथा अपनी कामनाएँ पूर्ण करते हैं। अतः विद्या अथवा ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता स्वयंसिद्ध है।

शिक्षा के उद्देश्यः शिक्षा से मनुष्य का जीवन विशुद्ध, प्रज्ञासम्पन्न और समुन्नत ही नहीं होता, बल्कि समाज भी सात्विक और नैतिक निर्देशों का पालन करता हुआ सन्मार्ग पर चलकर विकसित होता है। मनुष्य का जीवन शिक्षा और ज्ञान से ही धर्मप्रवण, नैतिक मूल्यों से युक्त, उच्च

आदर्शों से संवलित और बहुमुखी व्यक्तित्व से युक्त होता है। विद्यार्जन से व्यक्ति आत्मनिर्भरता तो प्राप्त करता ही है, साथ ही परिवार और समाज के निर्माण में योग प्रदान करता है। मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थान, उसके चरित्र का उत्थान, उसके व्यक्तित्व का उत्थान, उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन और उसके सांस्कृतिक जीवन का उन्नयन शिक्षा के प्रधान उद्देश्य हैं।शिक्षा के माध्यम से मनुष्य अपने इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहता है।अथर्ववेद में विद्या अथवा शिक्षा के उद्देश्य और उसके परिणाम का उल्लेख किया गया है, जिसमें श्रम, मेघा, प्रज्ञा, धन, आयु और अमृतत्व को सन्निहित किया गया है।

मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थानः

मनुष्य के जीवन में धार्मिक वृत्तियों का उदात्त और गरिमामय स्थान है,जिससे मनुष्य का जीवन भक्ति–प्रवण और धर्म प्रवण होता है। अतः ऐसी धर्म–प्रवण भावना प्राचीन काल से ही रही है। विद्यार्थियों के जीवन में भक्ति, धर्म, शुद्धता और पवित्रता की भावना का आरोपण शिक्षा के माध्यम से होता रहा है। ब्रह्मचारी द्वारा दैनंदिन क्रिया, संध्योपासन, व्रतों का अनुपालन, धर्म समन्वित उत्सव आदि का अनुगमन उसकी धार्मिक वृत्तियों के उत्थान में योग देते रहे हैं। जीवन के उत्थान और विकास के लिए आत्मविश्वास, आत्मबल और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो धार्मिक भावना से और सबल होती है। व्रतों के पालन से संयमी मनुष्य को निश्चय ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का भाव होता है जो उसके आत्मविश्वास का कारण होता है। आचार्य कुल में रहते हुए अग्नि–परिचर्या के नैतिक नियम का पालन भी ब्रह्मचारी का धार्मिक व्रत था और अनुशासन का एक अंग भी। मनु के अनुसार शौच, पवित्रता, आचार, स्नान क्रिया आदि, अग्निकार्य और संध्योपासन ब्रह्मचारी का धर्म था। इसके साथ ही उसे धर्म के पाल में प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया था जिससे उसका धर्मनिष्ठ व्यवहार बना रहे।

गुरुकुल अथवा गुरु के सान्निध्य में रहने वाला ब्रह्मचारी निष्ठापूर्वक धार्मिक निर्देशों का पालन करता था। अगर उसे किसी बात पर शंका होती थी तो गुरु उसका

निवारण करता था। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में ऐसी पृच्छा करने वाले ब्रह्मचारी के लिए कहा गया है यदि तुम्हें कभी अपने अथवा सदाचार के विषय में संदेह उपस्थित हो,तो जो विचारशील, तपस्वी, कर्त्तव्यपराय कोमल स्वभाव के धर्मात्मा ब्राह्मण विद्वान हों उनकी सेवा में उपस्थित होकर, अपना समाधान करो और उनके आचरण और उपदेश का अनुसरण करो। इसी प्रकार उन व्यक्तियों के प्रति, जिन पर दोष का आरोप किया जाता हो, अपने व्यवहार में तुम्हें बताये गये गुणों से युक्त ब्राह्मण विद्वानों के व्यवहार का ही अनुसरण करना चाहिए।

सामान्यतः विद्यार्थी के लिए सन्ध्या–वन्दना, पूजा–पाठ, स्नान, सचरित्रता आदि धर्म के अंतर्गत गृहीत किये गये थे। सत्य भाषण भी प्रमुख माना गया था और यह कहा गया था कि सत्य न बोलने से भी धर्मों का क्षय हो जाता है। शिक्षार्थी के विभिन्न नियम धर्ममूलक प्रवृत्तियों के विकास में सहायक होते थे। इन्हीं नियमों के आधार पर विद्यार्थी लौकिक और परलौकिक जीवन को समझ पाने और विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने में सक्षम होता था। वह आध्यात्मिक जगत् के विषय में जानने का प्रयास करता था तथा उसके निमित्त सात्विक जीवन को और तपःशील करता था। अतः मनुष्य के जीवन में तप, दान, आर्जव अहिंसा और सत्यवचन जैसे तत्त्व अनिवार्य माने गए।

मनुष्य के चरित्र अथवा आचरण का उत्थानः

मनुष्य के चरित्र का उत्थान शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था। इसके अंतर्गत व्यक्ति नैतिक क्रियाएँ सम्पन्न करता हुआ सन्मार्ग का अनुसरण करता था। चरित्र और आचरण का इतना बड़ा महत्त्व था कि समस्त वेदों का ज्ञाता विद्वान, सचरित्रता और सदाचरण के अभाव में माननीय नहीं था, किन्तु केवल गायत्री मंत्र का ज्ञाता पंडित अपनी सचरित्रता के कारण माननीय और पूजनीय था।वस्तुतः सचरित्रता व्यक्ति का भूषण मानी गयी थी। आचार–सम्पन्न और चरित्रवान् व्यक्ति अभिनंदनीय था तथा आचरणहीन और चरित्रहीन व्यक्ति निन्दनीय। सत्कर्मों से ही चरित्र का उत्थान मानागया था। ये सत्कर्म नैतिक मूल्यों से ही संचालित होते थे। शिक्षा अवधि में ही मनुष्य के आचरण और चरित्र को उन्नत

करने का प्रयास किया जाता था। समाज के अन्य लोगों के साथ उसके सद्व्यवहार की प्रवृत्ति उसके चरित्रोत्थान में सहायक तत्त्व थी। सहिष्णुता और सौहार्द, सत्यनिष्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श मनुष्य के चरित्रोत्थान के प्रधान कारणभूत तत्त्व थे। अतः धर्म और चरित्र का जिसमें वर्धन था, वही पण्डित था।शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अपनी तामसी और पाशविक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखता था तथा सदसत् का भेद कर सकने में समर्थ होता था। जब मनुष्य को सत्य का पूर्ण ज्ञान हो जाता था और अपने चरित्र एवं आचरण को वह तदनुकूल बना लेता था, तब उसके चरित्र का उत्थान प्रारम्भ होता था। विद्यार्थी–काल में ही शिक्षा की यथोचित प्राप्ति होती थी तथा चरित्र को तदनुकूल संघटित करने का अवसर मिलता था, इसके लिए चरित्र का विकास और भावी जीवन के विस्तार का यह सर्वोत्तम काल था। अपने काल में शिक्षार्थी विभिन्न नियमों और निर्देशों का पालन सुगमतापूर्वक कर सकता था, व्यवहार, सदाचार और शील का अर्थ समझ सकता था।

ब्रह्मचारी का जीवन सत्य, तप और नियम का जीवन था। इसलिए कहा गया था कि ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म को धारण करता था और उसमें समस्त देवता अधिवास करते थे। समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों का पालन करते हुए ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोगों को समुन्नत करता था।ब्रह्मचारी का तप और आचरण इतना शक्तिमान और दिव्य होता था कि सभी उसके सम्मुख नत होते थे। यह माना गया था कि ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता था। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों को यथोचित रूप में शिक्षित करने की योग्यता अपने में सम्पादित कर पाता था। चरित्र और आचरण के उत्थान में ब्रह्मचारी का व्रत अनिवार्य था, इसलिए शिक्षार्थी को 'ब्रह्मचर्य–व्रती' कहा गया था। ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक इन्द्रिय–निग्रह और व्रत–पालन का विचार भी प्रारम्भ से ही इसके साथ संयुक्त हो गया था। वस्तुतः चरित्र के उत्थान में ब्रह्मचर्य का मौलिक अभिप्राय अर्थात् वेद,

अथवा दूसरे शब्दों में, ज्ञान को प्राप्त करना था जो शाश्वत और दिव्य था। तप तो ब्रह्मचर्य–जीवन का आवश्यक महिमामय अंग ही था। शौच, पवित्रता, आचार, स्नान क्रिया अग्निकार्य और संध्योपासन ब्रह्मचारी के चरित्र के आधार–तत्त्व थे, जिससे उसके चरित्र का उत्थान होता था।

मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्थानः शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता था।विभिन्न प्रकार के निर्देशों, संयमों और नियमों से मनुष्य का जीवन दुव्यवस्थित होता था, जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता था। शिक्षा–प्राप्ति से ही व्यक्ति विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन कर सकने में सफल होता था। इससे उसके भीतर आत्म–संयम, आत्म–चिन्तन, आत्म–विश्वास, आत्म–विश्लेषण, विवेक–भावना, न्याय–प्रवृत्ति और आध्यात्मिक वृत्ति का उदय होता था।

आत्मविश्वास की भावना से ही व्यक्तित्व का विकास समुचित रूप से होता है। वैदिक काल में यह माना गया कि शिक्षार्थी में आत्मविश्वास का होना उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का कारण था। अपने कर्मों और उत्तरदायित्वों को आत्मविश्वास पर ही सही ढंग से निष्पन्न किया जा सकता था। इसलिए ब्रह्मचारी में यह आत्मविश्वास जागृत कराया जाता था कि वह भावी जीवन की भयंकर कठिनाइयों में भी स्थिर रह सके। इसी विश्वास के साथ वह गुरु के सान्निध्य में रहकर विभिन्न नियमों का पालन करता और अपने अद्भुत साहस का परिचय देता था। भविष्य के संकटमय जीवन को अपने अनुकूल बनाने में उसका आत्मविश्वास ही उसका एकमात्र सहायक होता था। शिक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व जब उपनयन संस्कार होता था उसी समय उसका आत्मविश्वास जगाया जाता था तथा अग्नि से यह प्रार्थना की जाती थी कि वह छात्र पर अपनी दयादृष्टि रखे और उसकी बुद्धि, मेघा और शक्ति में वृद्धि करे। जिससे अग्नि–शिखा की तरह उसकी विद्या और शक्ति की कीर्ति सभी दिशाओं में प्रसारित हो। अनेक देवताओं के पूजन के साथ उसमें यह भावना दृढ़ की जाती थी कि ये देवतागण उसकी रक्षा करेंगे।

ब्रह्मचारी की चोट, रोग और मृत्यु के समय सविता देवता उसकी रक्षा करता था।

ब्रह्मचारी के लिए आत्मसंयम की अपेक्षा की जाती थी। आत्मसंयम का अभिप्राय आत्मनियन्त्रण से था। अपने कर्त्तव्यों का पालन करने की दृष्टि से इन्द्रियों और मन की उच्छल प्रवृत्तियों को नियन्त्रित और व्यवस्थित रखना आत्मसंयम था। इससे व्यक्तित्व का उत्कर्ष स्वभाविक गति से होता था। गीता में कहा गया है कि संयमयुक्त योग उस व्यक्ति के ही दुःखों को दूर करता है जो यथायोग्य आहार–विहार करने वाला, कर्मों में यथायोग्य रत रहने वाला तथा यथायोग्य सोने वाला और जगाने वाला होता है। इस तरह व्रती, नियमित और व्यवस्थित आचरण आत्मसंयम का महत्त्वपूर्ण आधार था। इसमें विवेक–भावना और न्याय–प्रवृत्ति का उदय होता था।

सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादनः शिक्षित और ज्ञानवान होने के कारण व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक निष्पन्न करता था। स्नातक के रूप में वह अपने ही हित का ध्यान नहीं रखता था बल्कि वह अन्याय जिज्ञासु विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा भी प्रदान करता था। वह अपने कर्म करते हुए अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा दृढ़ रखता था। पुत्र, पति और पिता के रूप में वह अपने विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करता था। सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय में प्रमाद न करना, आचार्य की दक्षिणा दे लेने पर सन्तति–उत्पादन की परम्परा विछिन्न न करना, सत्य से न हटना, धर्म से न हटना, लाभ कार्य में प्रमाद न करना, देवता और पितरों के कार्य;यज्ञ और श्राद्ध आदिद्ध से प्रमाद न करना, माता को देवी समझना, आचार्य को देवता समझना, अतिथि को देवता समझना, अन्याय दोष–रहित कार्यों को करना। इस कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के अनेकानेक उत्तरदायित्व थे, जिन्हें शिक्षा–प्राप्ति के बाद मनोनिवेशपूर्वक संपादित करता था।

सभी वर्णों और जातियों के अपने पृथक्–पृथक् कर्म थे, जिनको निष्पन्न करना उनका परमधर्म था। सबके अपने व्यवसाय और पेशे थे, जिनके अनुसार वे

अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते थे। शिक्षा और ज्ञान के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, अपने पारिवारिक दायित्वों को निष्पन्न करता था तथा अपने उद्देश्यों को पूरा करने में सम्बद्ध हो जाता था। कार्य–विभाजन के अनुसार सभी वर्णों और जातियों के भिन्न–भिन्न कर्म थे, जिनका पालन करना सभी लोगों का अपना कर्त्तव्य था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अपने विभिन्न कर्म थे, जिन्हें वे मनोनिवेशपूर्वक सम्पादित करते थे, यद्यपि ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब इन वर्णों के कतिपय सदस्यों ने आपत्ति काल में अपने वर्णगत कर्म का त्याग करके दूसरे वर्णों के कर्म अपना लिए–क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के कर्म अपनाये और ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के, वैश्यों ने शूद्रों के और शूद्रों ने वैश्यों के। वर्णों में इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं जब व्यक्ति दूसरे के कर्म को अपनाकर अपना और अपने परिवार का पोषण करता था। ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रमाण भी अनेक हैं। पेशेवर जातियों ने श्रेणी के माध्यम से अपने कार्य पूरे किये थे।

सांस्कृतिक जीवन का उत्थानः शिक्षा और विद्या के माध्यम से सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का उत्कर्ष होता है। शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीती है तथा पहले से चली आती हुई परम्पराएँ जीवन्त हो उठती हैं। अतः अपनी सन्तति को शिक्षा द्वारा ही शिक्षित करना और प्राचीन संस्कृति की ओर प्रवृत्त करना इसका प्रधान लक्ष्य था। वैदिक साहित्य तथा अन्यान्य विषयों का ज्ञान और उसका प्रसार शिक्षा का प्रधान आधार था। वेदों को कण्ठस्टा करना और उन्हें यत्नपूर्वक मस्तिष्क में सुरक्षित रखना तत्कालीन शिक्षार्थी का प्रधान कर्त्तव्य था, साथ ही आर्य संस्कृति का यह प्रधान उद्देश्य भी। वेद–वेदांगों को कण्ठस्थ रखना और उन्हें सर्वथा स्मरण रखना ब्राह्मण का प्रधान धर्म था।सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिए त्रिऋण की अनिवार्यता मानी गई। प्रत्येक हिन्दू परिवार में इन तीनों ऋणों की सम्यकरूपेण पूर्ति करना प्रधान कर्त्तव्य था। तैत्तिरीय संहिता में लिखित है कि ब्रह्मचर्य द्वारा व्यक्ति ऋषि–ऋण अथवा संस्कृति के प्रति अपने कर्त्तव्य से मुक्त होता है, यह

उसी प्रकार संभव होता है जिस प्रकार व्यक्ति यज्ञ द्वारा देव–ऋण से मुक्त होता है। संतान द्वारा पितृ–ऋण से, देव–ऋण, ऋषि–ऋण और पितृ–ऋण ये वे ऋण थे, जिनसे मनुष्य को मुक्त होना आवश्यक था। देव–ऋण से तब मुक्ति मिलती थी जब यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे। ट्टषि–ऋण से छुटकारा ग्रन्थों का सांगोपांग अध्ययन कने से मिलता था। पितृ–ऋण सन्तान उत्पन्न करने और समुचित शिक्षा प्रदान करने से उतरता था। सांस्कृतिक जीवन के उत्थान में परम्पराओं को प्रचारित करने वाले नए साहित्य, पुराणों का निर्माण हुआ, जिसमें अतीत के जीवन के प्रति आकर्षण था।

➢ **विद्यारम्भः** अक्षर और वर्णमाला की शिक्षा का प्रारम्भ विद्यारम्भ के अंतर्गत आता है। यह संस्कार शिक्षा प्रारम्भ करने के पहले ही सम्पन्न किया जाता था। प्रायः पाँच वर्ष की अवस्था से विद्या का आरम्भ माना जाता था। उपनयन संस्कार के पूर्व विद्यारम्भ संस्कार सम्पन्न कर लिया जाता था। विद्यारम्भ के लिए कोई भी शुभ दिन स्थिर कर लिया जाता था और उसी दिन बालक का विद्यारम्भ करा दिया जाता और स्मृतिचन्द्रिका ने मार्कण्डेयपुराण को उद्घृत करते हुए सन्तान के विद्यारम्भ की अवस्था पाँच वर्ष निर्देशित की है।

संस्कार प्रकाश और संस्कार रत्नमाला में भी विद्या का आरम्भ उपनयन के पहले, पाँच वर्ष की अवस्था से माना गया है।विद्यारम्भ संस्कार के समय बालक गुरु की वन्दना करता और उसके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करता था। संभवतः यह संस्कार प्रारम्भ में चौलकर्म के साथ समबद्ध था जैसा कि कोटिल्य के उल्लेख से विदित होता है कि चौलकर्म के लिपि का ज्ञान कराया जाता था। कालिदास ने भी चौलक्रिया के साथ लिपि–ज्ञान का निर्देश किया है। लव और कुश के चौलकर्म के साथ ही उनका विद्यारम्भ हो गया था।चीनी यात्री श्वानच्वांग ने बच्चों की आरंभिक शिक्षा का 'सिद्धमचंग' से प्रारम्भ होना बताया है। 'सिद्ध' सफलता का द्योतक था। 'सिद्धम' की समाप्ति के पश्चात् सातवें वर्ष पंच विद्याओं का अध्ययन कराया जाता था। ईत्सिंग ने भी बालकों की प्रारंभिक शिक्षा 'सिद्धि रस्तु' नामक पुस्तक से मानी है, जिसमें वर्णमाला, स्वर और व्यंजन का

विनियोग था।चौलकर्म में शिक्षा का रखा जाना वंशगत वैदिक ऋषियों से घनिष्ठता–स्थापना का परिचायक था। वैसे, इतना अवश्य है कि सूत्रकाल में चौलकर्म के साथ ही विद्या का आरम्भ कर दिया जाता था।

समाज में आचार्य का स्थानः वैदिक युग से आचार्य अथवा गुरु का स्थान देवता के रूप में अत्यन्त आदरयुक्त, गरिमामय और प्रतिष्ठित था। ऋग्वेद में इन्द्र और अग्नि जैसे देवताओं को गुरु अथवा आचार्य के रूप में उल्लिखित किया गया है जो 'विश्ववेदा';सर्वज्ञद्ध, 'सत्यमन्या';सत्य जानने वालाद्ध, 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्';विभिन्न विद्याओं में पारंगतद्ध, जैसे अनेक विशेषताओं से अभिहित हैं। अग्नि का आचार्य अंगिरा के रूप में अवतण हुआ था। इन्द्र की भी गुरु के रूप में प्रतिष्ठा थी। वस्तुतः ऋग्वैदिक आचार्य दिव्य और अलौकिक ज्ञान के प्रतीक थे। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति और समाज को शिक्षित ही नहीं करता था बल्कि बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान में भी पारंगत करता था। वह अज्ञान के तिमिर से छात्र को ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश में लाता था। वस्तुतः ज्ञानरूपी दीपक आवृत रहता है। गुरु दीपक के उस आवरण को हटाकर ज्ञान की किरणों को विकीर्ण कर देता है। निश्चय ही गुरु अपनी शिक्षा से शिष्य के अंतस् में उद्दीप्तदीपक को अनावृत्त करके ज्ञान की किरणें फैलाता है। यह उसका अद्वितीय योग होता है। इसलिए प्राचीन काल से गुरु की अपार महिमा थी। समाज में उसकी स्थितिसर्वोच्च थी। वह आदर का ही पात्र नहीं बल्कि पूज्य भी था। उसें अग्नि और इन्द्र की तेजस्विता और वीरता थी। वह देवता के सदृश था और 'पुरुप्रिय';लोकप्रियद्ध था। इसीलिए उसके लिए कहा गया था कि आचार्य देवत है। यह सही बात है कि अच्छे आचार्य के सम्पर्क से मनुष्य को सच्चे अर्थों में ज्ञान की प्राप्ति होती थी।आचार्य के व्यक्तित्व और उसके ज्ञान से ही आचार्य–कुल का मान था। इसीलिए आचार्य का परम विद्वान होना अपेक्षित था। अध्यापन के कारण वह स्तुत्य था। प्रायः वह अपने चिरसंचित ज्ञान और विद्या से अपने उत्तराधिकारी पुत्र को अवगत करा देता था, जो उसके न रहने

पर समाज में उसकी ज्ञान–गरिमा की परम्परा को बनाए रखता था। इस प्रकार समाज में आचार्य की प्रतिष्ठा और गरिमा शनैः–शनैः बढ़ती गई, वह माता–पिता के समकक्ष माना गया। बाद में आकर समाज में उसका स्थान पिता से भी बढ़कर हो गया, यद्यपि अथर्ववेद में उसके लिए विवृत है कि वह उपनयन संस्कार के समय शिष्य को गर्भ में धारण करता था और तीन रात तक अपने उदर में उसे धारण करके उसका पोषण करता था तथा चौथे दिन उसको जन्म प्रदान करता था।अतः आचार्य की गरिमा जन्म देने वाली माँ से कम नहीं थी।

आचार्य का शिष्य के प्रति सम्मान और आदरः वैदिकयुगीन आचार्य अपने शिष्य का भी आदर और सम्मान तथा शिष्य भी अपने आचार्य को देवता की तरह पूजता था। आचार्य यह कामना करता था कि उत्कृष्ट बुद्धिवाले विभिन्न विषयों के अध्ययनार्थ सह जगह से उसके पास आएँ जिससे आचार्य यशस्वी, ब्रह्ममय, शुद्धऔर प्रतिभशाली बनें और साथ ही शिष्य एवं संयमी, शीलवान और शान्त स्वभाव के हों।उसकी यह हार्दिक इच्छा होती थी कि उसका शिष्य बुद्धि और ज्ञान से विभूषित होकर जगत में नाम करे। आचार्य पिप्पलाद का अपने ज्ञान निष्ठ शिष्यों के लिए यह विचार था कि वे तपःशील जीवन–यापन करें और तत्पश्चात् आचार्य से पृच्छा करें। उत्तर ज्ञात होने पर ही आचार्य ने शिष्यों को बताने का दायित्व अपने ऊपर लिया। आचार्य की यह उपज्ञा उसकी विनम्रता, सत्यनिष्ठा, ज्ञाननिष्ठा और शिष्यों के प्रति सम्मान–ज्ञापन का परिचायक है। आचार्य का पिप्पलाद नाम इसलिए पड़ा कि वह स्वयं पीपल वृक्ष के फल खाकर अपना जीवनयापन करते थे तथा सुखद और सुन्दर भोजन से दूर रहते थे। इसी प्रकार आचार्य कणाद भी थे, जो कण खाकर अपना पोषण करते थे और इसलिए उन्हें कणाद नाम से जाना गया। विद्वान आचार्य निस्पृह, त्यागी,तपःशील और भौतिक सुख से विलग रहते थे, यहाँ तक कि वे अपने भोजन और खाद्य सामग्री के प्रति भी उदासीन थे तथा समय पर भोजन न सुलभ रहने के कारण जो कुछ भी मन किया तुरन्त खाकर उदराग्नि का शमन करते थे। ऐसे विकट जीवन के बाद भी वे

अपने शिष्यों को ज्ञानलाभ करने से अनिच्छा नहीं व्यक्त करते थे। आचार्य के समीप आने वाले सभी शिष्य अतिथि के समान थे। ये शिष्य अपने आचार्य की देवता के रूप में सेवा करते थे। कभी–कभी इन सेवक शिष्यों में मन्द बुद्धि के भी होते थे, किन्तु आचार्य उनकी सेवा और विनम्रता से प्रसन्न होकर उन्हें भी ज्ञानार्जन कराता था।

उपनिषदों से ऐसे कतिपय उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि आचार्य अपने शिष्यों का बहुत सम्मान करता था। एक बार उद्दालक और प्राचीनकाल अनेक विद्वानों के साथ केकय–नरेश अश्वपति के यहाँ वैश्वानर विद्या के अध्ययनार्थ गये। केकय–नरेश ने उन सबका अलग–अलग स्नेहपूर्वक सम्मान किया और तब उपदेश दिया।इसी प्रकार उपनिषद् युग का एक दूसरा प्रसंग भी लिया जा सकता है, जब आचार्य नचिकेता यमराज के यहाँ अध्यात्म ज्ञान के लिए अपने पिता द्वारा भेजे गये थे। यमराज के न रहने पर नचिकेता ने तीन दिन उनके गृह द्वार पर ही उनकी प्रतीक्षा की। यमराज जब लौटे तब उन्होंने नचिकेता का स्वागत–सम्मान किया और अध्यात्म का ज्ञान कराया। कभी–कभी शिष्य आचार्य के यहाँ जीवन पर्यन्त रहकर ज्ञानार्जन में लगा रहता था और आचार्य उसे ससम्मान अपने परिवार के सदस्य के रूप में अपने यहाँ रखने में गौरव का अनुभव करता था। शिक्षा–प्राप्ति के बाद जब शिष्य आचार्य के यहाँ से चला जाता था तब आचार्य का मन दुःखी हो जाता था।

उपसंहारः वैदिक काल में शिक्षा वेदों के अध्ययन तक सीमित थी। वैदिक काल मेंजीवन ज्ञान के द्वारा निर्देशित था। बुद्धि के व्यवहार से जीवन आगे बढ़ता था। जो व्यक्ति वेदों को नही समझता था वह मूर्ख, शूद्र माना जाता था। ईश्वर भक्ति, धर्म विश्वास, चरित्रा–निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक और सामाजिक कर्त्तव्यों की शिक्षा, सामाजिक गुणों की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रचार शिक्षा के मुख्य उद्देश्य और आदर्श थे। संपूर्ण समाज की उन्नति के लिए शिक्षा ही एकमात्र व सर्वोत्तम साधन मानी जाती थी। शिक्षा सीमित व्यक्तियों का विशेषाधिकार नहीं मानी गयी थी। फिर भी शूद्रों को

वैदिक शिक्षा से वंचित रखा गया था। इसके अतिरिक्त वर्ण–व्यवस्था ने सुदीर्घ समय तक व्यवसायों को किसी जाति में सीमित नहीं किया था। ब्राह्मण के लिए अध्यापन उपयुक्त कर्म है किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता है कि अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति भी ब्राह्मण के घर जन्म लेने मात्र से कुशल अध्यापक हो जाएं। एक ब्राह्मण धर्मशास्त्रकार ने भी व्यवस्था दी कि विद्याहीन ब्राह्मण–पुत्र भी क्षत्रिय और वैश्य के व्यवसाय ही करें। बौद्ध विद्यापीठों की शिक्षा प्रणाली पर वर्ण–व्यवस्थाका कोई प्रभाव न था। बुद्ध स्वयं इस प्रथा के विरुद्ध थे। उनका कथन था कि उसके कुल और वर्ण का मूल्य उसके गुणों के आधार पर आंका जाना चाहिए न कि उसके कुल और वर्ण के आधार पर । बौद्ध संघ में प्रवेश के समय किसी का वर्ण नहीं पूछा जाता था।आज वैदिक शिक्षा हजारों वर्ष पुरानी हो गई है फिर भी भारत के जन जीवन और समाज को पथ प्रदर्शन वैदिक कालीन आदर्श एवं दिव्य जीवन दे सकता है। वैदिक काल के शिक्षा तथा समाज के अटूट संबंध को हम आज भी अपना सकते हैं। आधुनिक युग राजनीति का है, सभी उसमें भाग ले रहे हैं परन्तु इसका बुरा परिणाम छात्रों पर पड़ रहा है और वे कर्त्तव्यच्युत होते जा रहे हैं। यह बात वैदिककालीन शिक्षा प्रणाली में नहीं थी, इसलिए छात्र का आत्म–विश्वास सर्वाधिक हुआ। इसे वैदिक काल से ग्रहण करना चाहिए।

बौद्ध शिक्षण के अंतर्गत शिक्षार्थी के साथ विचार सम्प्रेषण हेतु जनभाषा या लोक भाषा का प्रयोग किया जाता था। आज भी यह अनुभव किया जा रहा है कि शिक्षा में विचार–विनिमय के माध्यम वे भाषाएं हो जिनके द्वारा सम्प्रेषण को अधिकाधिक प्रभावोत्पादक बनाया जा सके। बौद्ध दर्शन की शिक्षाएं सर्वकालिक एवं सर्वदेशिक हैं। तृष्णा चाहे आज के मानव की हो अथवा आज से पहले के, वह सदैव विनाशकारीतथा सकल दुःखों की जननी है। पदार्थों की लिपसा कभी शांत नहीं हो सकती है। आज भी उपभोक्तामूलक संस्कृति की त्रासदी का कारण भी यही तृष्णा है। ज्ञान के द्वारा व्यक्ति समाज में चहुमुखी विकास कर सकता है। बुद्ध की शिक्षाएं समस्त मानवमात्र के लिए थी,

किसी विशेष वर्ग के लिए नहीं। इनमें स्त्री—पुरुष, धर्म आदि का कोई भेद स्वीकार्य न था। बुद्ध न तो अंधविश्वासी थे और न ही वे अंधविश्वासों को बढ़ावा देने के पक्ष में थे। अतः उन्होंने इस बात पर बल दिया कि किसी भी विचार का अंधनुकरण न कर उसे तर्क की कसौटी पर कसा जाए और उसके कसौटी परखरा उतरने पर ही उसे स्वीकार किया जाए। बुद्ध का यह दर्शन व्यक्ति को प्रगतिशील बनने की प्रेरणा प्रदान करता है।

सारांश

शिक्षा का बौद्धदर्शन एवं धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय शिक्षा प्राचीनकाल से ही दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों से जुड़ी रही है। संसार की परिस्थितियों में परिवर्तन के फलस्वरूप दार्शनिक विचारधाराओं में भी परिवर्तन होता रहा है, जिसके फलस्वरूप शिक्षा व्यवस्था में भी परिवर्तित होता रहा है। सत्य तो यह है कि दर्शन का व्यावहारिक रूप शिक्षा है और शिक्षा का सैद्धान्तिक रूप दर्शन। वह दर्शन, दर्शन नहीं है जिसका शिक्षा पर प्रभाव न हो और वह शिक्षा, शिक्षा नहीं है, जिसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि न हो।वास्तविक दर्शन वह है जिसमें युवकों को जीवन के प्रति उचित दृष्टिकोण को अपनाने हेतु प्रेरित करने और सम्पूर्ण समाज को शिक्षा के उचित विचारों को ग्रहण कराने की शक्ति प्रदान होती है, चाहे उस दर्शन के उद्देश्य या विशेषतायें कुछ भी क्यों न हों। प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों से जुड़ी रही है। राजनीति का प्रभाव शिक्षा पर वर्तमान युग में स्वतन्त्रता के उपरान्त पड़ने लगा है। फिर भी भारतीय शिक्षा प्राचीनकाल के दार्शनिक विचारों से अब भी अति घनिष्ठ है। वैदिककालीन शिक्षा और बौद्धकालीन शिक्षा का प्रभाव निरन्तर चला आ रहा है। शिक्षा शास्त्र के सभी विषयों तथा कार्यों में इन दार्शनिक विचारों का प्रभाव दिखाई पड़ता हैं।प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक के सभी विषयों एवं पाठ्यक्रमों पर इसका प्रभाव पाया जाता है। प्राचीन शिक्षा व्यवस्था एवं बौद्ध कालीन शिक्षा व्यवस्था पर अलग—अलग अनेकों विस्तृत अध्ययन हुए हैं, किन्तु बौद्ध दर्शन का वैदिक शिक्षा पर प्रभाव एवं वर्तमान

शिक्षा में इसकी उपादेयता की दृष्टि से छिटपुट तथा आंशिक रूपसे ही कार्य हुआ।प्राचीन भारतीयों ने शिक्षा को अत्याधिक महत्व प्रदान किया। भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों के विधिवत निर्वाह के लिए शिक्षा की महत्ती आवश्यकता को सदैव स्वीकार किया गया। वैदिक युग से ही इसे प्रकाश का स्रोत माना गया है जो मानव–जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को आलोकित करते हुए उसे सही दिशा–निर्देश देता है।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः

1. उपाध्याय, नागेन्द्र नाथ : तान्त्रिाक बौद्ध साध्ना और साहित्य, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी संस्करण, सम्वत् 2015
2. उपाध्याय, भरत सिंह : पालि साहित्य का इतिहास, प्रयाग, सम्वत् 2008,बुद्धिकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग, सम्वत् 2018ध्यान सम्प्रदाय, नेशनल पब्लिकेशन हाऊस, दिल्ली
4. चुल्लवग्ग : सम्पादिक भिक्षु जगदीश कश्यप, नालंदा देवनागरी संस्करण, 2003
5. दीघनिकाय : सम्पादक, टी.डब्ल्यू. रीज रेविड्स और जे.इकारपेंटर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लंदन, 2005, सम्पादिक भिक्षु जगदीश कश्यप, नालंदा, देवनागरी संस्करण,, हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि, सारनाथ, 1936
6. धम्मपद : सम्पादक, एस.एस. थेर, पालि टेक्स्ट सोसायटी,लन्दन, 1914, अंग्रेजी अनुवाद, एपफ. मेक्समूलर, सेक्रेड कुक्स ऑपफ दी ईस्ट, जिल्द 10, (भारतीय संस्करण) दिल्ली 2008
7. धम्मपद अट्ठकथा : बौद्धघोष, सम्पादित, एच.सी. नार्मल और एचएस. तेलंग, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 2006–15
8. मज्झिम निकाय : सम्पादित भिक्षु जगदीश कश्यप, नालंदा देवनागरी संस्करण, 1958, सम्पादक, बी. ट्रेन्कर और आरयामर्स, पालि टेक्स्ट सोयायटी, लन्दन, 1888–1902, हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, 2008
9. महावंश : सम्पादक, डब्ल्यू. गायगर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 2008, अंग्रेजी
10. समन्त वासादिका : विनयपिटक की टीका, बौद्धघोष, जे. ताकाकुसु और एस. नागी द्वारा सम्पादित, पालि टेक्स्ट, लन्दन, 2010–47
11. उपासक, चन्द्रिका सिंह : डिक्शनरी ऑपफ अर्ली बौद्धिस्ट मोनोस्टिकटर्क्स, वाराणसी 2008
12. कोसम्बी, दामोदर धर्मानन्द : दी कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑपफ ऐंश्येन्टइण्डिया, इन हिस्टारिकल

आउट लाइन, भारतीय संस्करण, दिल्ली 2005